

भारतीय ज्ञान प्रणाली में मूल्यपरक एवं आदर्श शिक्षण पद्धतियाँ

डॉ. श्याम लाल

आचार्य, संस्कृत

चौ. बल्लूराम गोदारा राजकीय

कन्या महाविद्यालय, श्रीगंगानगर (राज.)

शोध सारांश -

प्राचीन सभ्यता से लेकर अद्यावधि भारतीय ज्ञान प्रणाली सम्पूर्ण विश्व में अद्वितीय है, भारत की बौद्धिक परम्पराओं में ऋषि-मुनियों, मनीषियों, विद्वानों का चिन्तन जिज्ञासा, परीक्षण और अनुसन्धान तथा व्यावहारिकता व मूल्यों पर आधारित रहा है। भारतीय शिक्षण पद्धति एक विशिष्ट द्विपक्षीय उद्देश्य पर केन्द्रित थी। प्रथम लौकिक जीवन में मानव व्यक्तित्व का उच्चतम एवं सर्वतोमुखी विकास। द्वितीय आध्यात्मिक एवं पारलौकिक दृष्टि से व्यक्तित्व विकास के साथ-साथ मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना। प्रथम लक्ष्य के अंतर्गत भौतिक जीवन का यथार्थ ज्ञान एवं व्यवहार समाहित है वहीं दूसरी ओर सत्-चित्-आनन्द के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर परम सत्ता की प्राप्ति है।

दूसरे शब्दों में कहें तो मानव का भौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति प्राप्त करते हुए मानव जीवन को उन्नत एवं श्रेष्ठ बनाना ही शिक्षा का पवित्र उद्देश्य होता था।

भारतीय शिक्षण व्यवस्था इन्हीं विलक्षणताओं के कारण अपनी सांस्कृतिक ख्याति प्राप्त थी तथा भारत को विश्वगुरु कहा जाता था। मानव व्यक्तित्व में गुरु-शिष्य परम्परा का अद्भुत प्रभाव दृष्टिगत होता है। गुरुकुल शिक्षण पद्धति में गुरु के सान्निध्य में रहकर शिष्य न केवल शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करता था, अपितु गुरु के आचरण एवं व्यवहार से स्वयं को परिवर्तित करते हुए आत्मसात् करता था, जिससे शिष्य में सदाचार, सत्य, कर्तव्यनिष्ठा, उदारता, सहिष्णुता, निरहंकार, सामाजिक समत्व, लोकोपकारक भावना, जैसे गुण स्वतः ही विकसित होते थे।

शब्द कुंजी -

सभ्यता, परम्परा, शिक्षण पद्धति, गुरुकुल व्यवस्था, भौतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक हित, कर्तव्यनिष्ठा, समाज सेवा, राष्ट्रहित, गुरु-शिष्य परम्परा, भिक्षाटन, नैतिकता, मानव कल्याण, समग्र विकास, प्रत्यक्ष, परोक्ष, उपनिषद्, वेद, पुराण, धर्म, अन्तश्चेतना।

शोध का क्षेत्र एवं उद्देश्य -

प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति रटन विधि पर आधारित न होकर सीखने की समझ विकसित करने की परम्परा रही है। गुरुकुल में प्रकृति के सान्निध्य में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए व्यावहारिक शिक्षा को आत्मसात् करने वाली भारतीय ज्ञान प्रणाली में चारित्रिक विकास, व्यक्ति निर्माण, सहयोग एवं विश्वबन्धुत्व की भावना सामाजिक समानता, भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति, सांस्कृतिक समृद्धि एवं राष्ट्रभावना से ओतप्रोत जीवन मूल्यों का संरक्षण, योग एवं संस्कार पर केन्द्रित मानव सभ्यता के उच्चतम आदर्शों की संकल्पना सामाजिक विकास की प्रगति की द्योतक मूल्यपरक शिक्षण पद्धतियाँ ही भारतीय ज्ञान परम्परा की प्रमुख विशेषता रही है। जहाँ शास्त्र एवं शस्त्र दोनों में ही ब्रह्मचारी को पारंगत किया जाता था। ज्ञान-विज्ञान की विशिष्ट एवं आदर्श शिक्षण पद्धति वैश्विक स्तर पर भारत की अद्वितीय पहचान रही है। इस प्रकार इस शोध का क्षेत्र चरित्र निर्माण से व्यक्तित्व विकास व राष्ट्रनिर्माण के साथ-साथ भौतिक एवं आध्यात्मिक अभ्युन्नति की दिशा में भारतीय ज्ञान प्रणाली को समग्र विकास के रूप में प्रस्तुत करता है।

उद्देश्य -

1. प्राचीन भारतीय गुरुकुल पद्धति की वैज्ञानिक एवं सामाजिक दृष्टि से विवेचना करना।
2. गुरु-शिष्य परम्परा के महनीय आदर्शों पर चिन्तन।
3. ज्ञान को आत्मसात् कर व्यावहारिक जीवन को सुदृढ़ीकरण पर विमर्श।
4. नैतिक एवं शाश्वत जीवनमूल्यों का राष्ट्र की प्रगति में योगदान विषयक विश्लेषण।
5. मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के विविध पहलुओं का अधिगम।
6. प्राचीन भारतीय शिक्षण की विभिन्न विधियों का वर्तमान शिक्षण के सन्दर्भ में दृष्टिपात कर शिक्षा को मूल्यपरक बनाने की अवधारणा विषयक चिन्तन।

विषय प्रवेश -

वर्तमान युग 'ज्ञान युग' है। बिना ज्ञान के मानव जीवन यात्रा दुर्लभ है। संसार में ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है- **"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"**। ज्ञान शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है- **"ज्ञायते इति ज्ञानम्"** अर्थात् जिसे जाना जाए, वह ज्ञान है। **"ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्"** यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारत की प्राचीन ज्ञान राशि 'वेद' ही है जो कि विद् धातु से बना है जिसका अर्थ भी जानना या ज्ञान ही है। वेद प्रामाणिक एवं अमूल्य ज्ञान धरोहर हैं। वैदिक दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञान अर्थात् विद्या के दो स्वरूप मुख्यतः दृष्टिगोचर होते हैं परा और अपरा अर्थात् अध्यात्म एवं भौतिक। औपनिषद भाषा में जिसे अविद्या या विद्या की संज्ञा दी गयी है, प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा गुरु-शिष्य परम्परा पर आधारित थी जो कि गुरुकुल व्यवस्था के अधीन रही है, जिसमें गुरु अपने शिष्य को लौकिक और आध्यात्मिक ज्ञान से परिष्कृत कर एक श्रेष्ठ नागरिक का निर्माण करता था। गुरुकुल परम्परा में गुरु के सान्निध्य में जो शिक्षा शिष्य अर्जित करता था वह प्रायः मौखिक, व्यक्तिगत एवं यथार्थ जीवन की

यथार्थता की कसौटी से जुड़ी होती थी। इस ज्ञानार्जन की परम्परा का व्यावहारिक पक्ष सुदृढ़ होता था, जिसमें शिष्य की जिज्ञासा को तो शान्त किया ही जाता था, साथ ही उसकी अन्तश्चेतना को भी जाग्रत किया जाता था, जिससे शिक्षण प्रक्रिया सहज एवं जीवन्त होने के साथ सृजनात्मक भी हुआ करती थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान करवाने के साथ-संस्कारों एवं नैतिकता पर भी बल दिया जाता था। इस मूल्याधारित शिक्षा के द्वारा ही एक श्रेष्ठ समाज व राष्ट्र का निर्माण होता था। गुरु के व्यक्तित्व व आचरण से भी शिष्य प्रेरित होकर किं कर्तव्यम्। किं अकर्तव्यम् का सहज ही अनुमान लगा लेता था। गुरु की श्रेष्ठ आदतों का अनुसरण भी करता था।

गुरुकुल परम्परा का वैशिष्ट्य यही था कि आचार्य अपने ज्ञान के साथ-साथ अपने व्यवहार से, आचरण से अनेक मूल्य स्थापित करते थे। आचार्य के कार्य के सम्बन्ध में कहा गया है -

स्वयमाचरते यस्माद् आचारं स्थापयत्यपि ।

आचिनोति च शास्त्रार्थान् यमैः सनियमैर्युतः ॥¹

अर्थात् जो स्वयं अपने ज्ञान के अनुकूल आचरण करते हैं, शिष्यों का आचार में स्थापन करते हैं और यम-नियमशील होकर शास्त्रों के अर्थों एवं रहस्यों का संचय करते हैं।

इस प्रकार आचार्य स्वयं शास्त्र सम्मत आचरण करके अपने विद्यार्थियों के लिए एक आदर्श उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते थे अपने ज्ञान और चरित्र के द्वारा शिष्यों के व्यक्तित्व में अर्थ, बुद्धि, और सदाचार का सृजन एवं संचय करता था। इस गुरु-शिष्य परम्परा में गुरु का स्थान केवल अध्यापनकर्ता का ही नहीं अपितु जीवन के मार्गदर्शक के रूप में देखा जाता था। इस ज्ञान प्रणाली की शिक्षण व्यवस्था के तीन चरण मुख्यतः आधार है - श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

शुक्रहस्योपनिषद् में कहा है -

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम् ।

निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णबोधस्य कारणम् ॥

अर्थात् श्रवण के द्वारा शिष्य गुरु के वचन (शब्द-अर्थ) को पहले ध्यानपूर्वक सुनता था। उसके बाद मनन (चिन्तन, या विचार करके) के द्वारा उनके वचनों का बौद्धिक परिग्रहण करता था तत्पश्चात् निदिध्यासन अर्थात् (उस ज्ञान को अपने व्यवहार और जीवन में आत्मसात् करना) के द्वारा उसकी साधनात्मक अनुभूति करता था। इस प्रकार इन त्रिविध चरणों से सम्पूर्ण ज्ञान का बोध होता था अर्थात् शिष्य अपने स्वाध्याय के द्वारा ही गुरु के उपदेशों को आत्मसात् (हृदयङ्गम) करता था। गुरु केवल मार्गदर्शन होता था। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी इसका उल्लेख किया गया है।

औपनिषदिक शिक्षण पद्धति के अन्तर्गत पंचकोश की संकल्पना -

भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षणार्थ पाठ्यक्रम को पंचकोश (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय) के आधार पर सुव्यवस्थित किया जाता था, ताकि ज्ञानार्जन करने वाले विद्यार्थियों का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास हो सके। उन्हें आत्मबोध हो सके। उत्तर वैदिक साहित्य में ऐसे कतिपय उदाहरण मिलते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में **"मन अन्नमय है, प्राण जलमय है तथा वाक् तेजोमयी है"** - इस तथ्य को समझाने के लिए श्वेतकेतु के पिता आरुणि इसे पन्द्रह दिवस तक केवल जल पीकर रहने का निर्देश देते हैं ताकि इस अवधि में वह इस तथ्य का अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करें। इसी प्रकार आत्मा तथा शरीर का सम्बन्ध बताने के लिए आरुणि श्वेतकेतु को वट-वृक्ष का एक फल तोड़कर लाने को कहते हैं। श्वेतकेतु इस फल के बीजों का निरीक्षण-परीक्षण करता है। पिता इसके द्वारा आत्मा अथवा सत्य की व्यापकता का ज्ञान करवाते हैं।

शास्त्रार्थ पद्धति -

प्राचीन भारतीय शिक्षण प्रणाली में शास्त्रार्थ पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यह पद्धति ज्ञान चक्षु खोलने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम रही है। यह शिक्षण पद्धति न केवल ज्ञान को अभिव्यक्त करती है, अपितु सम्प्रेषण कौशल, तार्किक क्षमता व स्मरण शक्ति में अभिवृद्धि करने का सशक्त माध्यम रही है। शास्त्रार्थ का अर्थ है शास्त्रों (वेद, उपनिषद्, दर्शन, साहित्य) के द्वारा उनके गूढ़ रहस्यों पर चर्चा करते हुए सत्य - असत्य का निर्णय करना। इस पद्धति के द्वारा प्रामाणिकता के साथ विषय को स्पष्ट किया जाता था जिससे किसी भी तरह की शंका नहीं रहती थी। शास्त्रार्थ भारतीय दर्शन की प्राचीन परम्पराओं में से एक रही है, जिसमें शास्त्रों के आधार पर तर्कपूर्ण वाद-विवाद किया जाता था, जो सत्य के निष्कर्ष पर पहुँच कर ही समाप्त होता था। उपनिषदों में इसका एक दृष्टान्त बृहदारण्यक उपनिषद् में देखा जा सकता है। राजा जनक के यज्ञ में गार्गी ने महर्षि याज्ञवल्क्य से ब्रह्म के स्वरूप पर प्रश्न किये थे जिसका याज्ञवल्क्य ने सप्रमाण खण्डन किया था।

महाभारत में दृष्टिपात किया जाए तो राजा जनक के दरबार में अष्टावक्र ने बन्दी के साथ शास्त्रार्थ किया और उन्हें पराजित भी किया।²

इसी प्रकार शंकराचार्य और मंडन मिश्र का शास्त्रार्थ प्रसिद्ध है, जिसमें आदि शंकराचार्य ने "अद्वैत वेदान्त" पर शास्त्रार्थ करते हुए मंडन मिश्र को परास्त किया। इतना ही नहीं इसके उपरान्त मंडन मिश्र की पत्नी उभय भारती से भी वाद-विवाद हुआ था, जिसमें उभय भारती को भी शंकराचार्य ने हराया था। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में अनेक उदाहरण शास्त्रार्थ पद्धति के देखे जा सकते हैं। इस पद्धति के द्वारा प्रतिभागी को तात्त्विक विवेचना का सुअवसर मिलता है जिससे न केवल बौद्धिक विकास होता है, अपितु तार्किक चिंतन के साथ अभिव्यक्ति कौशल में निखार आता है।

गुरु-शिष्य परम्परा में शिष्य गुरु के साथ उक्त शास्त्रार्थ गोष्ठियों में उपस्थित रहता था और जब वह शास्त्रार्थ को सुनता व देखता था तो विषय से सम्बन्धित ज्ञान एवं मूल्यों को ग्रहण करता था। वर्तमान शिक्षण पद्धति में भी शास्त्रार्थ या वाद-विवाद पद्धति को महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि जटिल से जटिल विषय भी इसके द्वारा नितांत स्पष्ट हो जाता है तथा छात्रों के ज्ञान वृद्धि एवं मूल्य विकास हेतु सशक्त पद्धति है।

प्रश्नोत्तर पद्धति -

यह शिक्षण के अधिगम की वह पद्धति है जिसमें शिष्य की विभिन्न जिज्ञासाओं को गुरु द्वारा शान्त किया जाता है। किसी भी विषय को समझने में कठिनाई होने पर शिष्य बार-बार गुरु से प्रश्न पूछता है जब तक वह सन्तुष्ट न हो जाए और गुरु शिष्य के मनोभावों को समझते हुए उसी के अनुरूप उनके प्रश्नों का उत्तर विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से देना अपना पुनीत कर्तव्य समझता था। शिष्य के ज्ञान में न्यूनता न रह जाए ऐसा गुरु का प्रयास रहता था। यह पद्धति दर्शाती है कि शिष्य की ज्ञानार्जन में कितनी अभिरुचि है। उपनिषद् साहित्य में इस प्रणाली के द्वारा गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन बहुत ही सरल एवं रोचक ढंग से किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में मोहग्रस्त अर्जुन जब श्रीकृष्ण को अपना गुरु स्वीकार करके जो उसके लिए कल्याणकारी हो वह पूछता है। युद्धभूमि में अर्जुन को अनेक शंकाएं होती हैं परन्तु श्रीकृष्ण गुरु की भूमिका में सब शंकाओं का क्रमशः निवारण करते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता के चतुर्थ अध्याय में प्रश्न के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख दृष्टव्य है -

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥³

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं - "भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त कर, वे मर्म को जानने वाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।"

यदि श्रद्धापूर्वक शिष्य गुरु से प्रश्न करता है तो निश्चित रूप से गुरु शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते थे। यह गुरु की कर्तव्यपरायणता का भी द्योतक है। आचार्य पतञ्जलि से उसके शिष्य कबन्ध आथर्वण ने बार-बार अनेक प्रश्न पूछे, किन्तु उन्होंने बड़ी विनम्रता के साथ प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देकर अपने शिष्य की शंकाओं का निराकरण किया -

तमपृच्छाम कोऽसीति

सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्।⁴

आचार्य आरुणि ने अपने शिष्य श्वेतकेतु द्वारा आत्मा के जैसे गहन विषय के बारे में अनेक बार प्रश्न पूछे तब आरुणि ने क्रमशः शिष्य की शंका का समाधान किया अपितु आत्मा जैसे दुरूह विषय को सहजता से हृदयंगम करवाया।⁵

इस शिक्षण पद्धति के माध्यम से आचार्य अपने शिष्यों में उन मूल्यपरक विषयों का बोध करवाता है, उसे विषय का आत्मसात् करवाते हैं। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में भी यह शिक्षण पद्धति पूर्णतया प्रासंगिक एवं छात्रों के जीवन में मूल्यों का विकास करवाने में समर्थ है।

समन्वयवादी पद्धति -

इस शिक्षण पद्धति में विभिन्न शास्त्रों, विचारधाराओं, मतों और परम्पराओं व प्रथाओं को एक-दूसरे के पूरक के रूप में स्थापित किया गया है, जिससे अध्ययनरत् विद्यार्थियों के जीवन में सहृदयता, विवेकशीलता, समन्वय, सहनशीलता व श्रद्धा का भाव जैसे मूल्यों का विकास होता था। इस पद्धति में सकारात्मकता के भाव द्योतित होते हैं

न कि वाद-विवाद पद्धति की तरह एक-दूसरे के मतों को खण्डन करने की प्रक्रिया होती थी। बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को छः आध्यात्मिक दृष्टिकोणों का परस्पर समन्वय स्थापित करवाया था।⁶

इस प्रकार समन्वय के अनेक उदाहरण अन्य उपनिषदों जैसे छान्दोग्य उपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि में द्रष्टव्य हैं। इस पद्धति से समन्वयवादी दृष्टिकोण जैसे मूल्य विद्यार्थियों में स्थापित किये जाते थे। वर्तमान शिक्षण प्रणाली में भी इसकी आवश्यकता है।

अनुकरण पद्धति -

यह शिक्षण की एक विशेष प्रक्रिया है, जिसके द्वारा छात्र अपने आचार्य या जिसे अपना आदर्श समझते हैं उस व्यक्ति के व्यक्तित्व, व्यवहार, क्रियाओं, उच्चारण एवं कार्यों को ध्यानपूर्वक देखकर उन्हें दोहराते हैं या अनुसरण करते हैं। यह सीखने की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जहाँ विद्यार्थी सुनकर या देखकर ज्ञान अर्जित करते हैं। विशेष रूप से भाषा शिक्षण में यह अत्यन्त उपयोगी है। प्राचीन ज्ञान परम्परा में गुरुकुल में रहकर शिष्य अपने गुरु द्वारा उच्चारित वेदमन्त्रों का अधिगम इसी विधि द्वारा करते थे, फिर उनका दोहरान करते थे। गुरुकुल में योगाभ्यास करवाते समय इसी पद्धति का उपयोग होता था। इसके अतिरिक्त प्रायोगिक कार्यों में कौशल विकास हेतु इस पद्धति का छात्र अनुसरण करते हैं। अपने गुरु के आचरण व चरित्र को देखकर अपने जीवन में अनुशासन व शिष्टाचार करना इसी विधि से सीखते हैं। छोटा बालक जो क्रिया-कलाप देखता है-वैसा ही अनुकरण करने का प्रयास करता है। इस पद्धति से आचार्य शिष्य में सदाचार, कर्तव्यबोध, सत्य बोलना, नैतिकता जैसे जीवन मूल्यों का आधान करता है। 'दशकुमारचरितम्'⁷ में गुरु के आचरण का अनुसरण करने का उल्लेख मिलता है -

तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य अपने शिष्यों को समावर्तन के दौरान उपदेश देते हुए कहते हैं-

"सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः!"⁸

अर्थात् सत्य बोलो, धर्म (कर्तव्य) का आचरण (पालन) करो तथा स्वाध्याय से प्रमाद मत करो।

इस प्रकार यह पद्धति आचार्य के आचरण व आदर्शों व मूल्यों को शिष्यों के अनुकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत स्थापित करने की अनुपम अनौपचारिक शिक्षण पद्धति है। आज भी बच्चे घर में बड़ों को देखकर व विद्यालय / महाविद्यालय में शिक्षकों को देखकर सीखते हैं।

सामूहिक गान पद्धति -

यह पद्धति भी शिक्षण में महत्वपूर्ण मानी जाती है। वेदकालीन गुरु-शिष्य परम्परा में प्रातःकालीन नित्य क्रियाओं के उपरान्त गुरुकुल में सभी अध्ययनरत शिष्य एकत्रित होकर प्रार्थना, वेद मन्त्र, सूक्ति, श्लोक तथा श्लोकों का गान करते थे।

अनुवादे चरणानाम्, नन्दन्तु कठकालायाः ।

वर्धन्ताम् कठकौथुमा उदगान्मोदपैप्लादम् ॥⁹

इस प्रकार की गतिविधियों से वेद पाठ का सस्वर गान को बच्चे सीखते थे। आज भी गुरुकुल संस्कृत विद्यालयों / महाविद्यालयों में वेद ऋचाओं का सस्वर पाठ करवाया जाता है।

इस पद्धति के द्वारा अनुशासन के साथ-साथ सहिष्णुता, संयमित जीवनचर्या एवं स्वस्थ परम्परा के साथ स्मरण का कण्ठस्थीकरण एवं सुगम शिक्षण का वातावरण निर्माण होता था। इससे सहभाव सामूहिक जीवनचर्या व संयमित आचरण जैसे जीवन मूल्यों का निर्माण होता था। वर्तमान आधुनिक शिक्षण व्यवस्था में भी प्रार्थना सभा में आयोजित कार्यक्रम इसी पद्धति का एक उदाहरण हैं।

कथाकथन पद्धति :-

गुरु-शिष्य परम्परा में यह पद्धति जटिल से जटिल विषय को रुचिकर बनाने एवं विषय को समझने में अत्यन्त सहायक है। गंभीर विषय को हृदयंगम करवाने के लिए आचार्य अपने शिष्यों के लिए उपनिषदों, हितोपदेश, पंचतन्त्र की कथाएं बीच-बीच में सुनाते थे, जिससे विद्यार्थियों को विषय सरलता से समझ आ जाता था तथा स्थायी रूप से स्मरण भी हो जाता था। अपने शिष्यों में रुचि जाग्रत करने तथा स्मरण शक्ति बढ़ाने के लिए यह पद्धति बहुपयोगी रही है। सत्य बोलना, करुणा का भाव जाग्रत करना, असहायों की मदद करना जैसे मूल्यों से ओत-प्रोत कथाओं का श्रवण कर अन्तेवासी इसे स्व-जीवन में आत्मसात् करते थे। छान्दोग्य उपनिषद का एक प्रसंग है, जिसमें सत्यकाम जाबालि की प्रसिद्ध कथा है। जब सत्यकाम ऋषि गौतम के आश्रम में ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, परन्तु ऋषि गौतम द्वारा सत्यकाम से गौत्र पूछे जाने पर वह अपनी माता जाबालि से अपना गौत्र पूछता है तो माता ने कहा कि बेटा मुझे तुम्हारा गौत्र नहीं मालूम। मैं अपनी युवावस्था में बहुत से घरों में दासी का काम करती थी। उस समय तुम्हारा जन्म हुआ था इसलिए मुझे तुम्हारा गौत्र मालूम नहीं है। मैं जाबालि हूँ और तुम सत्यकाम हो। बस यही परिचय जाकर तुम अपने गुरुकुल में दे देना। बालक सत्यकाम ने ईमानदारी से गुरु के सामने यही परिचय दिया तो ऋषि गौतम बालक की सत्यनिष्ठा से बहुत प्रभावित हुए और उसे अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। यह प्रसंग हमें यह दर्शाता है कि शिक्षा के इतिहास के उस काल खण्ड में 'सत्य' को गोत्र और जन्म से अधिक महत्त्व दिया जाता था। इस प्रकार की कथा छात्रों में सत्यनिष्ठा व ईमानदारी जैसे मूल्यों को स्थापित करती है।¹⁰

ऐसा ही एक उदाहरण कठोपनिषद में यम-नचिकेता संवाद में मिलता है-जिसमें यमराज नचिकेता को गूढ़ ज्ञान एवं आत्मतत्त्व की दुर्लभता तथा गुरु स्वरूप का विवेचन किया गया है -

न नरेणावरेण प्रोक्त एव सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।

अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥¹¹

अर्थात् "अल्पज्ञ मनुष्य के बतलाये जाने पर और उसके अनुसार बहुत प्रकार से चिन्तन किये जाने पर भी यह आत्मतत्त्व सहज ही समझ में आ जाये, ऐसा नहीं है। किसी दूसरे ज्ञानी पुरुष के द्वारा उपदेश न किये जाने पर इस विषय में मनुष्य का प्रवेश नहीं होता, क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु से भी अधिक सूक्ष्म है इसलिए तर्क से अतीत है।"

यमराज ने नचिकेता के हृदय में परब्रह्म के तत्त्व की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए परमात्मा के गूढ़ स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है -

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गहवरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥¹²

अर्थात् जो योग माया में छिपा हुआ, सर्वव्यापी, सबके हृदयरूप गुहा में स्थित संसार रूप गहन वन में रहने वाला सनातन है, ऐसे उस कठिनता से देखे जाने वाले परमात्मा देव को शुद्ध बुद्धियुक्त साधक अध्यात्म योग की प्राप्ति के द्वारा समझकर हर्ष और शोक को त्याग देता है ।

इसी प्रकार वैदिक साहित्य में देवताओं से सम्बन्धित सूक्तों में अनेक कथाएँ मिलती हैं, जो हमें यथार्थ का ज्ञान करवाती है । आत्मबोध जैसे मूल्य विकसित करती हैं ।

इनके अतिरिक्त 'भिक्षाटन' प्रवृत्ति भी अनौपचारिक शिक्षण का माध्यम थी, जिसके द्वारा ब्रह्मचारी शिष्य¹³ में अहंकार रहित जीवन जीने का कौशल सिखाती है, अहं का परित्याग कर बालकों को सामाजिक समरसता से भी साक्षात्कार करवाती है ।

निष्कर्ष -

भारतीय ज्ञान प्रणाली में मूल्यपरक एवं आदर्श शिक्षण पद्धतियाँ शिक्षा को ज्ञान, कौशल, चरित्र, राष्ट्र-प्रेम, व्यक्तित्व निर्माण आत्मबोध का समन्वित रूप दर्शाती है । जिसका उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करना था, जो विद्वान होने के साथ-साथ विनम्र, संवेदनशील, सहृदय, सामाजिक, सत्यनिष्ठ, कर्तव्यनिष्ठ भी हों । अध्ययन के साथ-साथ मित्रता, त्याग, सेवा, सहयोग, करुणा, मानवता जैसे जीवनमूल्य स्वतः ही विकसित होते थे । आधुनिक शिक्षण आत्मनिर्भर, व्यवस्था में संवाद, अनुभवात्मक अधिगम, योग, ध्यान, नैतिक व्यवहार सेवाकार्य और समग्र जीवन को सम्मिलित करके इस ज्ञान प्रणाली को सार्थक रूप से पुनर्जीवित किया जा सकता है ।

सन्दर्भ

¹ वायुपुराण 59/30

² महाभारत

³ श्रीमद्भगवद्गीता 4/34

⁴ बृहदारण्यक उपनिषद् 3-7-1

⁵ छान्दोग्य उपनिषद् - 6/12

⁶ बृहदारण्यक उपनिषद् - चतुर्थ प्रकरण

⁷ दशकुमारचरितम्, पृष्ठ - 21-22

⁸ तैत्तिरीय उपनिषद् - शिक्षा वल्ली, प्रथम वल्ली

⁹ महाभाष्य - 2.4.3

¹⁰ छान्दोग्य उपनिषद् - 4-4-5

¹¹ कठोपनिषद् - 1/2/8, 1/2/9

¹² कठोपनिषद् - 1-2-12

¹³ मनुस्मृति अध्याय-2